॥ दंसण मूलो धम्मो ॥

आत्मधर्म

★ शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिक पत्र ★

वर्ष : १
अंक : २

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

ज्येष्ठ
२००२

★

सम्यग्दृष्टि का अन्तर परिणमन

चिन्मूरत द्रग्धारी की मोहि, रीति लगत है अटपटी... चिन्मू.

बाहिर नारकिकृत दुःख भोगे, अंतर सुखरस गटागटी
रमत अनेक सुरनि संगपै तिस, परनतितै नित हटाहटी... चिन्मू. १

ज्ञान विराग शक्ति तै विधिफल, भोगतपै विधि घटापटी
सदन निवासी तदपि उदासी, तातैं आस्रव छटाछटी... चिन्मू. २

जे भवहेतु अबुधके ते तस, करत बन्ध की झटाझटी
नारक पशु तिय षंड विकलत्रय, प्रकृतिन की ह्यौ कटाकटी... चिन्मू. ३

संयम धर न सकै पै संयम, धारन की उर चटाचटी
तासु सुयश गुन की दौलत कौ, लगो रहे नित रटारटी... चिन्मू. ४

[यह स्तवन श्रीमन्त सेठ सर हुकमीचन्दजी ने श्री जैन स्वाध्याय
मंदिर सोनगढ़ में ता. चौथी व पांचवीं जून के दिन सुनाया था]

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

एक अंक
पाँच आना

★ आत्मधर्म कार्यालय (सुवर्णपुरी) सोनगढ़ काठियावाड ★

सम्यग्दर्शन की अपार महिमा

आत्मा का कल्याण सुख प्राप्त करने में है। आकुलता (चिन्ता, संक्लेश या झंझटों) का मिट जाना ही सच्चा सुख है। वह सुख मोक्ष में ही प्राप्त होता है, इसलिए प्रत्येक आत्महितैषी को मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति करना चाहिये।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता 'मोक्षमार्ग' कहलाता है। वह निश्चय और व्यवहार के भेद से दो प्रकार का है। निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तो निश्चय मोक्षमार्ग कहलाता है और व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र व्यवहार मोक्षमार्ग कहलाता है।

आत्मा का परद्रव्यों से भिन्न यथार्थ श्रद्धान 'निश्चयसम्यग्दर्शन' कहलाता है। आत्मा का परद्रव्यों से भिन्न यथार्थ ज्ञान 'निश्चय-सम्यग्ज्ञान' कहलाता है। तथा परद्रव्यों से सम्बन्ध छोड़कर आत्मस्वरूप में लीन होना 'निश्चय-सम्यक्चारित्र' कहलाता है। सातों तत्त्वों का ज्यों का त्यों अटल श्रद्धान होना व्यवहार (सम्यग्दर्शन) कहलाता है।

८ मद, ३ मूढ़ता, ६ अनायतन, ८ शंकादिक ये २५ सम्यक्त्व के दोष हैं तथा नि:शंकित आदि ८ अंग (गुण) हैं। इनको भली प्रकार जानकर दोषों का त्याग और गुणों का ग्रहण करना चाहिये।

जो विवेकी प्राणी निर्दोष और गुणसहित सम्यक्त्व को धारण करता है; उसके अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से यद्यपि संयम लेशमात्र भी नहीं होता, तो भी वह इन्द्रादिक द्वारा पूजा जाता है। वह गृहस्थ है, तो भी गृहस्थी के दोष से दूषित नहीं होता। तीनों लोकों और तीनों कालों में इस सम्यक्त्व के समान सुखकारी अन्य कोई वस्तु नहीं है। यही सब धर्मों का मूल (सार) और मोक्षमार्ग की प्रथम सीढ़ी है। इस के बिना ज्ञान और चारित्र परमार्थता (सत्यता) नहीं पाते, मिथ्या कहलाते हैं।

आयुबंध के पूर्व-सम्यक्त्व का धारक प्राणी मरण होने पर अगले भव में नारकी, ज्योतिषी, व्यन्तर, भवनवासी, नपुंसक, स्त्री, स्थावर, विकलत्रय, कर्मभूमि का पशु, हीनाँग, नीचकुली, अल्पायु और दरिद्री नहीं होता। मनुष्य और वैमानिक देव ही होता है। नरकायु और तिर्यंगायु का बंध पीछे सम्यक्त्व हो जाय और नरक भी जाय तो प्रथम नरक से नीचे नहीं जाता, तिर्यंच भी हो तो भोगभूमि मात्र का तिर्यंच होता है। इस प्रकार इस सम्यग्दर्शन की महिमा अपार है।

इसलिए प्रत्येक आत्महितैषी को शास्त्रस्वाध्याय, तत्त्वचर्चा और सत्संगति आदि के द्वारा सम्यग्दर्शन प्राप्त कर अपना मनुष्य-जीवन सफल बनाना चाहिए। क्योंकि यदि इस पर्याय में भी सम्यक्त्व न पाया तो फिर मनुष्य-पर्याय आदि का सुयोग मिलना कठिन होगा। [छहढाला]

सारे भारतवर्ष के प्रत्येक आत्महितैषी सज्जन की पास 'आत्मधर्म' भेजने में आपसे सहयोग चाहता हूँ। कृपया आप उन महानुभावों का पूरा पता भेज दीजिए जो इस पत्र को यथार्थरूप से पढ़ सकें। - जमु रवाणी

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिक पत्र

वर्ष : १
अंक : २

: आत्मधर्म :

ज्येष्ठ
२००२

न धर्मो धार्मिकैर्विना

[परम पूज्य सद्‌गुरुदेवश्री के व्याख्यान में से १२-४-४५]

धर्मात्माओं के बिना धर्म नहीं होता। जिसे धर्मरुचि होती है, उसे धर्मात्मा के प्रति रुचि होती है। जिसे धर्मात्माओं के प्रति रुचि नहीं होती, उसे धर्मरुचि नहीं होती। जिसे धर्मात्मा के प्रति रुचि और प्रेम नहीं है, उसे धर्मरुचि और प्रेम नहीं है। और जिसे धर्मरुचि नहीं है, उसे धर्मी (आपका) आत्मा के प्रति ही रुचि नहीं है। धर्मी के प्रति रुचि न हो और धर्म के प्रति रुचि हो, यह हो ही नहीं सकता। क्योंकि धर्म तो स्वभाव है, वह धर्मी के बिना नहीं होता। जिसे धर्म के प्रति रुचि होती है, उसे किसी धर्मात्मा पर अरुचि, अप्रेम या क्रोध नहीं हो सकता। जिसे धर्मात्मा प्यारा नहीं, उसे धर्म भी प्यारा नहीं हो सकता। और जिसे धर्म प्यारा नहीं है, वह मिथ्यादृष्टि है। जो धर्मात्मा का तिरस्कार करता है, वह धर्म का ही तिरस्कार करता है। क्योंकि धर्म और धर्मी पृथक् नहीं है।

स्वामी समन्तभद्राचार्य ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार के २६ वें श्लोक में कहा है कि :- ''न धर्मो धार्मिकैर्विना।'' इसमें दुतरफा बात कही गई है; एक तो यह कि जिसे अपने निर्मल शुद्धस्वरूप की अरुचि है, वह मिथ्यादृष्टि है और दूसरा यह कि जिसे धर्मस्थानों या धर्मीजीवों के प्रति अरुचि है, वह मिथ्यादृष्टि है।

न धर्मो धार्मिकैर्विना

यदि इसी बात को दूसरे रूप में विचार करें तो यों कहा जा सकता है कि जिसे धर्मरुचि है, उसे आत्मरुचि है, और वह अन्यत्र जहाँ-जहाँ दूसरे में धर्म देखता है, वहाँ-वहाँ उसे प्रमोद उत्पन्न होता है। जिसे धर्मरुचि हो गयी, उसे धर्मस्वभावी आत्मा की और धर्मात्माओं की रुचि होती ही है। जिसे अन्तरंग में धर्मी जीवों के प्रति किंचित् मात्र भी अरुचि हुई, उसे धर्म की भी अरुचि होगी ही। उसे आत्मरुचि नहीं हो सकती।

जिसे आत्मा का धर्म रुच गया, उसे जहाँ-जहाँ वह धर्म देखता है, वहाँ-वहाँ प्रमोद और आदरभाव उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता। धर्मस्वरूप का भान होने के बाद भी वह स्वयं वीतराग नहीं होता, इसलिए स्वयं स्वधर्म की पूर्णता की भावना का विकल्प उठता है; और विकल्प पर निमित्त की अपेक्षा रखता है, इसलिए अपने धर्म की प्रभावना का विकल्प उठने पर वह जहाँ-जहाँ धर्मी जीवों को देखता है, वहाँ-वहाँ उसे रुचि, प्रमोद और उत्साह उत्पन्न होता है। वास्तव में तो उसे अपने अन्तरंग धर्म की पूर्णता की रुचि है। धर्मनायक देवाधिदेव तीर्थंकर और मुनि-धर्मात्मा, सद्गुरु, सत्शास्त्र, सम्यग्दृष्टि और सम्यग्ज्ञानी, यह सब धर्मात्मा, धर्म के स्थान हैं। उनके प्रति धर्मात्मा को आदर-प्रमोदभाव उमड़े बिना नहीं रहता। जिसे धर्मात्माओं के प्रति अरुचि है, उसे अपने धर्म के ही प्रति अरुचि है, अपने आत्मा पर क्रोध है।

जिसका उपयोग धर्मी जीवों को हीन बताकर अपनी बढ़ाई लेने के लिये होता है, जो धर्मी का विरोध करके स्वयं बड़ा बनना चाहता है, वह निजात्म-कल्याण का शत्रु है-मिथ्यादृष्टि है। धर्म यानी स्वभाव, और उसे धारण करनेवाला धर्मी यानी आत्मा। इसलिए जिसे धर्मात्मा के प्रति अरुचि है, उसे धर्म के प्रति अरुचि है। जिसे धर्म की अरुचि हुई, उसे आत्मा की अरुचि हुई और आत्मा की अरुचिपूर्वक जो क्रोध, मान, माया, लोभ होता है, वह अनंतानुबन्धी क्रोध, अनंतानुबन्धी मान, अनंतानुबन्धी माया और अनन्तानुबन्धी लोभ होता है। इसलिए जो धर्मात्मा का अनादर करता है, वह अनंतानुबन्धी राग-द्वेषवाला है, और उसका फल अनन्त संसार है।

जिसे धर्मरुचि है, उसे परिपूर्ण स्वभाव की रुचि है। उसे अन्य धर्मात्माओं के प्रति उपेक्षा अनादर या ईर्ष्या नहीं हो सकती। यदि अपने से पहले कोई दूसरा केवलज्ञान प्राप्त करके सिद्ध हो जाय तो उसे खेद नहीं होगा, किन्तु अन्तर से प्रमोद जागृत होगा कि अहो! धन्य है इस धर्मात्मा को! जो मुझे इष्ट है, वह इसने प्रगट किया है। मुझे इसकी रुचि है, आदर है, भाव है, चाह है। इस प्रकार अन्य जीवों की धर्मवृद्धि देखकर धर्मात्मा अपने धर्म की पूर्णता की भावना भाता है। इसलिए उसे अन्य धर्मात्माओं को देखकर हर्ष होता है, उल्लास होता है। और इस प्रकार धर्म के प्रति आदरभाव होने से वह अपने धर्म की वृद्धि करके पूर्ण धर्म प्रगट करके सिद्ध हो जायेगा। ●

ग्रन्थाधिराज श्री समयसार अलौकिक शास्त्र है

अनन्त काल से परिभ्रमण करते हुए जीवों को जो कुछ भी
समझना शेष रह गया है, वह इस परमागम में समझाया गया है।

इस समयसार का अध्ययन, मनन, स्वाध्याय जीवन के अन्तिम श्वासोच्छ्वास तक करना योग्य है।

(४-८-४४)

समयसार में पद-पद पर पूर्ण वस्तु बताई गई है। आचार्य को जो विकल्प उठा है, वह पूर्ण का है। वाणी में पूर्णता है, शब्दों में पूर्णता उतरी है, आचार्य की भावना भी पूर्ण की है। सब तरह से समयसार में पूर्णता है, और वस्तु भी तो पूर्ण ही है न! स्वभाव परिपूर्ण है, पर्याय भी परिपूर्णता के लक्ष्य पर ही काम करती है, इसलिए परिपूर्ण है, विकल्प में भी परिपूर्ण गुण आते हैं और आचार्यदेव के कथन में भी परिपूर्णता आयी है। यह समसार तो साक्षात् तीर्थंकर की वाणी में से आया है। इसलिए सर्व प्रकार से पूर्ण ही है।

(८-८-४४)

यह तो दैवी वाणी है, भगवान के श्रीमुख से प्रसूत और सन्तों-मुनियों के द्वारा झीली गयी दैवी वाणी है, अपूर्व वाणी है। ओहो! यह समयसार भरतक्षेत्र के भगवान हैं। यह समयसार दैवी वाणी और दैवी शास्त्र है। भरतक्षेत्र में अभी ऐसा शास्त्र अन्य दूसरा कोई भी नहीं है। यह अद्भुत दैवी शास्त्र है। समयसार में शब्द नहीं समझना, वे दैवी मन्त्र हैं।

(१०-८-४४)

अहो! समयसार तो दुधारू गाय है, कामधेनु गाय है। अहह! चैतन्य भण्डार की क्या बात कहनी!!! जिसके आगे महान् चक्रवर्ती का भण्डार भी सड़े हुए तिनके के समान है, ऐसा परिपूर्ण चैतन्य भण्डार एक-एक आत्मा के पास अनादि-अनन्त मौजूद है।

(१५-८-४४)

अहो! समयसार की रचना! एक अलौकिक रूप में इस महान् शास्त्र की रचना हुई है। जिस प्रकार भगवान के श्रीमुख से निकली हुई एकाक्षरी दिव्यध्वनि में सम्पूर्ण कथन आ जाता है, उसी प्रकार इस शास्त्र में आचार्य कुन्दकुन्द भगवान ने एक-एक गाथा में एक-एक पद में सम्पूर्ण आत्मस्वरूप कहा है। भगवान एक अक्षर में पूर्ण कथन करते हैं, आचार्यदेव एक पद में पूरा कथन करते हैं।

(८-८-४४)

तृतीय कलश में टीकाकार आचार्यदेव ने स्वभाव के जोर से कहा है कि इस समयसार की व्याख्या की सफलता में मेरी परिपूर्ण निर्मल दशा प्रगट हो। आचार्यवर्य को परिपूर्ण की ही झांईं सुनायी देती है।

कोई कहे कि वर्तमान में तो टीका करने का विकल्प हो रहा है, तब परिपूर्ण की माँग क्यों की गई है? इसके समाधान में कहते हैं कि पहले तो परिपूर्ण ही चाहिए; विकल्प की बात बाद में। इसमें आचार्यदेव ने अपूर्ण दशा के भेद का इंकार किया है। विकल्प होने पर भी उस ओर ध्यान ही किसका है? परिपूर्ण स्वभाव की धुन में भला विकल्प को देखता कौन है? इस प्रकार पूर्ण स्वभावी अप्रतिहत भाव के बल पर आचार्य महाराज प्रयाण करते हैं।

समयसार जैसे महान् शास्त्र की टीका करते हुए आचार्यदेव का हृदय हर्ष के मारे उछल रहा है, इसलिए वे कहते हैं — स्वरूपत: तो त्रिकाल शुद्ध हूँ, और जब तक केवलज्ञान प्रगट नहीं हो जाता, तब तक निरन्तर-प्रत्येक समय में अवस्था मलिन है। परन्तु अब? अब, इस समयसार की टीका करने से मेरी अवस्था भी वीतराग-परम विशुद्ध हो जायेगी। इस श्रद्धा के बल पर आचार्यदेव ने टीका का प्रारम्भ किया है।

(८-४-४४, गाथा-१)

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने प्रथम गाथा की संस्कृत टीका में सर्व प्रथम 'अथ' शब्द रखा है। उसका अर्थ होता है 'अब'! वह मांगलिक है। इसका यह अर्थ है कि अनादि काल से आत्मा को जाने बिना जो कुछ भी किया, उसे छोड़कर 'अब' यह साधक दशा प्रारम्भ होती है। अनादि से जो पर की-पुण्य, पाप की सगाई थी उसकी जगह पर 'अब' स्वभाव की बात करता हूँ। अनादि से जो पर की सगाई थी, वह समाप्त हुई। अब उसे छोड़ दे, और मैं चिदानन्द ध्रुव स्वभावी हूँ, इसको अपना ले। अनादि काल से आत्मा को पराश्रित मान बैठा है, मगर अब आत्मबल को सम्हाल!

(१०-८-४४)

समयसार का प्रारम्भ करते हुए मूल गाथा में ही आचार्यदेव कहते हैं कि मैं सिद्ध हूँ; तू सिद्ध है, पहले यह स्वीकार कर, उसके बाद हम तुझे समयसार सुनाते हैं। जो साक्षात् सिद्ध हो चुके हैं, और जो वर्तमान में साधक हैं तथा जो सिद्धत्व को स्वीकार करके सुनने आया है, इन तीनों को सामान्य रूप में लेकर आचार्यदेव ने सिद्धत्व की स्थापना की है; उसमें उपादान-निमित्त का मेल रखा है।

(१०-८-४४, रात्रिचर्चा)

समयसार की पहली गाथा में आचार्यदेव ने कहा है कि हमने यह मोक्ष का मण्डप बनाया है, उसमें एक नहीं किन्तु अनन्त सिद्धों को उतार रहे हैं। लोक-व्यवहार में भी लड़के की बारात में बड़े-बड़े सेठ, साहूकारों को भी साथ में ले जाते हैं, जिससे यदि कोई कमी आ जाय या कन्या वापिस न होने पावे। इसी प्रकार यहाँ पर आचार्यदेव ने अनन्त सिद्धों को पहले आत्मा के आँगन में स्थापित किया है।

लग्न का अर्थ है जोड़ना। स्व स्वरूप की भक्ति करते हुए या अन्तरंग में लगनी (एकाग्रता) करते हुए अनन्त सिद्धों को उतारा है, जिससे इस मण्डप से मुक्ति रूपी कन्या वापिस न होने पावे-उससे लग्न होकर ही रहे। ('अनन्त सिद्धों को उतारा है' इसका अर्थ यह नहीं कि सिद्ध भगवान को ऊपर से यहाँ बुला लिया है, क्योंकि सिद्ध भगवान ऊपर से यहाँ नहीं आते; परन्तु आचार्य महाराज को सिद्धों की नगरी में पहुँचने की-सिद्ध बन जाने की उत्कट चाह है, वह बताया है।)

मैं अपने आँगन में-अपनी आत्मा में अनन्त सिद्धों की-सर्व सिद्धों की स्थापना करता हूँ। अब यह मोक्ष का मेला लगा है; अब मुक्तिरूपी परिणति वापिस नहीं हो सकती; मेरी सिद्धदशा अब मुझ से विलग नहीं हो सकेगी। इस प्रकार आचार्यदेव ने समयसार में अप्रतिहत साधक भाव का वर्णन किया है। वे इतने जोर से उड़े हैं कि सिद्धत्व प्राप्त करके ही रहेंगे।

मुक्ति मण्डप के बीच में आकर यदि कर्म गड़बड़ करे तो कहते हैं कि अबे, रहने भी दे; अनन्त सिद्धों को अपनी आत्मा में स्थापित किया है, अब उसमें राग नहीं समा सकता, अब इस राग का नाश अवश्य होगा ही। जैसे दस शेर के किसी बर्तन में दस सेर ही सोने का पिण्ड रख देने पर उसमें थोड़ा-सा भी पानी नहीं रह सकता; उसी प्रकार हमारी आत्मा में अनन्त सिद्धों का समावेश हुआ है, इसलिए अब इसमें किंचित् मात्र भी राग नहीं समा सकता। ओहो! आचार्यदेव ने अद्‌भुत मंगलाचरण किया है। पात्र बनकर जिज्ञासापूर्वक यदि इसे सुने तो चैतन्य भण्डार का द्वार खुल जाय; इसमें ऐसा अपूर्व कथन है।

आचार्यदेव कहते हैं – मेरा मुक्ति दशा के साथ लग्नोत्सव हो रहा है। उसमें मैंने अनन्त सिद्धों को आमन्त्रण दिया है, अनन्त सिद्धों को अपनी आत्मा में स्थापित किया है। मैं अनन्त सिद्धों का समावेश अपनी इस एक ही पर्याय में कर रहा हूँ, अर्थात् मेरी एक पूर्ण पर्याय में अनन्त सिद्धों को जानने की शक्ति है, उसे वर्तमान में जान रहा हूँ – इस पर्याय में, सिद्ध दशा प्रगट होने से पूर्व ही सिद्धस्वरूप की प्रतीति करने की शक्ति है। मैं सिद्ध और तू भी सिद्ध... हाँ कह दे न!

श्री कुन्दकुन्द भगवान के प्रथम पद 'वंदित्तु सव्व सिद्धे' की आचार्यदेव ने यह अद्भुत टीका की है।

संसार इस जड़ शरीर के साथ शादी करता है, किन्तु समयसार में आचार्यदेव ने आत्मा की शुद्ध परिणति के साथ विवाह रचाया है। शरीर तो मुर्दा है, तब फिर मुर्दे का शृंगार कैसा और विवाह कैसा? वाह! चैतन्य भण्डार तो भीतर भरा पड़ा है, और उसे भूलकर इस जड़ शरीर पर –मुर्दे पर मुग्ध रहा है! अरे! ऐसा चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा अन्दर मौजूद है, उसे छोड़कर यह चिन्ता करता है कि इस शरीर का क्या होगा? अरे भाई! तू भीतर आनन्दकन्द अनन्त–गुणों का भण्डार लेकर पड़ा है, उसको सम्हाल!

सिर के बालों को–जुल्फों को कैसा सम्हालता है??? तू इन जुल्फों में मुग्ध हुआ है, लेकिन भाई मेरे! यह जुल्फें तो जलकर राख हो जायेगी और जो आनन्दकन्द चैतन्य है, वह शाश्वत, ध्रुव अनिवाशी वस्तु है। किन्तु उसे जाने बिना पर फन्द में यह आनन्दकन्द किंकर्तव्यविमूढ़ बना हुआ है।

(११–८–४४)

'वंदित्तु सव्व सिद्धे'

इसमें सर्व सिद्ध कहकर विशालता प्रगट की गई है कि अनन्त सिद्धों को अपनी एक अवस्था में समाविष्ट करने की (एक समय में जानने की) शक्ति तुझमें है। तूने अपनी आत्मा में अनन्त सिद्धों को स्थापित किया, तब क्या तुझे निज स्वरूप से बाहर जाना शोभा देता है? आचार्यदेव, समयसार का महामंत्र प्रारम्भ करते हुए कहते हैं कि अब मैं अनन्त सिद्धों की बस्ती में मिल जाना चाहता हूँ, अर्थात् मैं सिद्ध होना चाहता हूँ! मैं संयमी मुनि और समयसार सुनने को आनेवाले जिज्ञासु (अर्थात् उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य) इन तीनों में आचार्यदेव ने कोई भेद नहीं किया।

(२७–८–४४)

समयसार सुनने लायक शिष्य कैसा है? संसार से भयभीत है, मोक्ष की चाहवाला है, विनय से सद्गुरु को अर्पित और शुद्ध आत्मस्वरूप को जानने की भावनावाला है! आचार्यदेव ने इतना तो स्वीकार कर ही लिया है कि इस परम समयसार को सुनने के लिये आनेवाला भव्य जीव (१) सच्चे देव–शास्त्र–गुरु को बाह्य लक्षणों द्वारा यथार्थ जानता है, (२) कुदेवादि को नहीं मानता, (३) सांसारिक अशुभराग की अपेक्षा सच्चे देव–शास्त्र–गुरु के प्रति शुभराग बढ़ाता है; (४) शिष्य बिल्कुल लायक है, स्वीकार ही करता है – अर्थात् जो कहने का आशय है, उसे बिल्कुल ठीक पकड़ लेता है। जिसमें ऐसी योग्यता है – ऐसे शिष्य के लिये आचार्यदेव इस समयसार में उपदेश करते हैं।

गुजराती अनुवादक भाई श्री हिम्मतलाल जेठालाल शाह ने समयसार के उपोद्‌घात में लिखा है—

श्री समयसार अलौकिक शास्त्र है। आचार्यदेव ने संसार के जीवों पर परम दया करके इस शास्त्र की रचना की है। इसमें मोक्षमार्ग का यथार्थ स्वरूप जैसा है, वैसा ही कहा गया है। अनन्त काल से परिभ्रमण करते हुए जीवों को जो कुछ भी समझना शेष रह गया है, वह इस परमागम में समझाया गया है। परम कृपालु-आचार्य भगवान ने शास्त्र का प्रारम्भ करते हुए स्वयं ही कहा है कि काम-भोग-बंध की कथा सबने सुनी, परिचय प्राप्त किया और अनुभव किया है, परन्तु पर से भिन्न एकत्व की प्राप्ति ही दुर्लभ है। वह एकत्व की-पर से भिन्न आत्मा की बात मैं इस शास्त्र में अपने समस्त विभव (आगम, युक्ति, परम्परा और अनुभव) से कहूँगा। इस प्रतिज्ञा के अनुसार आचार्यदेव इस शास्त्र में आत्मा को एकत्व-परद्रव्य से और परभावों से भिन्न समझाते हैं। × ×

प्रश्न यह होता है कि ऐसा सम्यग्दर्शन किस प्रकार से प्राप्त हो सकेगा, अर्थात् राग और आत्मा की भिन्नता अनुभवांश में कैसे मालूम होगी? आचार्य भगवान उत्तर देते हैं कि प्रज्ञारूपी छैनी से छेदने पर वे दोनों अलग हो जाते हैं, अर्थात् ज्ञान से ही-वस्तु के यथार्थस्वरूप की पहचान से ही-अनादि काल से राग-द्वेष के साथ एकाकाररूप में परिणमन करनेवाला आत्मा भिन्नपने में परिणमन करने लगता है; उसके सिवाय और दूसरा कोई उपाय नहीं है। इसलिए प्रत्येक जीव को वस्तु के यथार्थस्वरूप की पहचान करने का प्रयत्न सदा ही करना चाहिए।

यथार्थ आत्मस्वरूप की पहचान करना इस शास्त्र का मुख्य उद्देश्य है। ××× सचमुच ही इस काल में यह शास्त्र मुमुक्षु-भव्य जीवों का परम आधार है। इस दुषमा काल में भी ऐसा अद्‌भुत-अनन्य शरणभूत शास्त्र-तीर्थंकरेदव के मुख में से निकला हुआ अमृत-विद्यमान है, यह हमारा महान सौभाग्य है। निश्चय-व्यवहार की सन्धि-पूर्वक यथार्थ मोक्षमार्ग की ऐसी संकलनबद्ध प्ररूपणा अन्य किसी भी ग्रन्थ में नहीं है।

परम पूज्य सद्‌गुरुदेव के ही शब्दों में कहूँ तो 'यह समयसार शास्त्र आगमों का भी आगम है; इसमें लाखों शास्त्रों का निचोड़ समाविष्ट है; यह जैनशासन का स्तम्भ है; यह साधक की कामधेनु हैं; कल्पवृक्ष है। इसमें चौदह पूर्व का रहस्य समाविष्ट है। इसकी प्रत्येक गाथा छट्ठे-सातवें गुणस्थान में झूलते हुए महामुनि के आत्मानुभव में से निकली है। इस शास्त्र के कर्ता भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव विदेहक्षेत्र में सर्वज्ञ वीतराग श्री सीमन्धरस्वामी के समवसरण में गये थे, और वे वहाँ एक सप्ताह रहे थे; यह बात यथातथ्य है, अक्षरशः सत्य हैं, प्रमाण सिद्ध है, इसमें

लेशमात्र भी शंका के लिए स्थान नहीं है। उन परम उपकारी आचार्य भगवान द्वारा रचित इस समयसार में तीर्थंकरदेव की निरक्षरी ॐकार ध्वनि में से निर्गत ही उपदेश हैं।

× × शासन मान्य भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने इस कलिकाल में जगद्गुरु तीर्थंकरदेव की भाँति ही काम किया है, और श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने, मानो कुन्दकुन्द भगवान के हृदय में घुसकर ही, उसी प्रकार गम्भीराशयों को यथार्थरूप में व्यक्त करके उनके गणधरदेव की तरह काम किया है। इस टीका के काव्य (कलश) अध्यात्म रस से और आत्मानुभव की मस्ती से भरे हुए हैं।

यह (समयसार का गुजराती) अनुवाद करने का महा सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है, यह मेरे लिये अत्यन्त आनन्द का विषय है। मेरी आन्तरिक भावना है कि यह अनुवाद भव्य जीवों को जिनदेव प्ररूपित आत्मशान्ति का यथार्थ मार्ग बतावे। श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव के शब्दों में – यह शास्त्र आनन्दमय विज्ञानघन आत्मा को प्रत्यक्ष दिखानेवाला अद्वितीय जगतचक्षु है। जो भी इसके परम गम्भीर और सूक्ष्म भावों को हृदयगत करेगा, उसे यह जगत्चक्षु आत्मा का प्रत्यक्ष दर्शन करायेगा। जब तक वे भाव यथार्थ रीत्या हृदयगत नहीं होते, तब तक रात-दिन यही मन्थन और यही पुरुषार्थ करते रहना चाहिए। (गुजराती अनुवाद के उपोद्घात से)

समयसारजी में हस्ताक्षर करते हुए पूज्य गुरुदेवश्री लिखते हैं कि ''समय प्राभृत अर्थात् समयसाररूपी नजराना-भेंट। जैसे राजा से मिलने के लिये नजराना-भेंट देते हैं; उसी प्रकार अपनी परम उत्कृष्ट आत्मदशास्वरूप परमात्मदशा प्रगट करने के लिये समयसार जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वरूप आत्मा है, उसकी परिणतिरूप नजराना-भेंट देने से परमात्मदशा-सिद्धदशा प्रगट होती है।

यह शब्दब्रह्मस्वरूप परमागम से बताये गये एकत्व विभक्त आत्मा को प्रमाण मानना, स्वीकार ही कर लेना, कल्पना मत करना। इसका बहुमान करनेवाला भी महा भाग्यशाली है।'' (देखिये गुजराती समयसार में हस्ताक्षर)

समयसार के २७८ वें कलश के भावार्थ में कहा गया है कि — ''उसके पढ़ने और सुनने से पारमार्थिक आत्मस्वरूप की प्रतीति होती है, उसका श्रद्धान तथा आचरण होता है, मिथ्याज्ञान, श्रद्धान और आचरण दूर होता है, और परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसलिए मुमुक्षुओं! इसका निरन्तर अभ्यास करना चाहिए।''

ऐसा यह महान परमागम शास्त्र श्री समयसारजी भव्य जीवों के महा भाग्य से प्रकाश में आया है। और इससे भी अधिक महा भाग्य की बात तो यह है कि इस परमागम शास्त्र के गहन

से गहन रहस्य को परम कृपालु श्री सद्गुरुदेव बिल्कुल सरल भाषा में समझा रहे हैं। हजारों मुमुक्षु इस परमागम में बताये गये गूढ़ भावों को समझने के लिये सद्गुरुदेव की अमृतमय वाणी का लाभ ले रहे हैं। इससे शासन की उन्नति सिद्ध होती है।

परमागम श्री समयसार तथा उसके रहस्य को बतानेवाले श्री सद्गुरुदेव जयवन्त हों।

आहाहा! समयसार की रचना की क्या बात कहें? प्रत्येक गाथा में अद्भुत प्रकार से निश्चय और व्यवहार को सन्धिपूर्वक गूँथा है। एक-एक गाथा में विविध प्रकार से व्यवहार बताकर फिर ऐसी कुलांट खाई है कि लाकर सीधा निश्चय में रख दिया है, और कहा है कि यह जो व्यवहार बताया गया है, वह तू नहीं, तू तो एकरूप ज्ञायकस्वरूप है। इस प्रकार सारे समयसार में निश्चय-व्यवहार की अलौकिक सन्धि पायी जाती है। अनेक भव्य जीवों पर इस परमागम समयसार का उपकार है। आत्महितैषी मुमुक्षु जीवों को सत्समागम द्वारा इस परमागम शास्त्र का निरन्तर अभ्यास करना चाहिए। ●

★ ★ ★ ★ निश्चय और व्यवहार ★ ★ ★ ★

१. निश्चय कहता है :— मैं स्वद्रव्याश्रय हूँ, इसलिए मेरे शब्दों का जैसा का तैसा अर्थ करना ठीक है-सत्य है।

व्यवहार कहता है:—मैं पर्यायाश्रित हूँ, इसलिए मेरे कथन का शब्दार्थ करना ठीक नहीं है-असत्य है।

२. निश्चय:—मैं जीव के स्वाभाविक भाव का अवलम्बन लेकर प्रवृत्ति करता हूँ।

व्यवहार:—मैं तो जीव के औपाधिक भाव (अपूर्ण-हीन दशा, वर्णादिक परवस्तु अथवा निमित्त) का अवलम्बन लेकर प्रवृत्ति करता हूँ।

३. निश्चय कहता है:—व्यवहार जो कहता है, उसका शब्दार्थ यथार्थ नहीं है, इसलिए उस शब्दार्थ का मैं निषेध करता हूँ। व्यवहार तो संक्षिप्त कथन शैली है।

व्यवहार का कहना है:—मैं परद्रव्याश्रित वर्तता हूँ, इसलिए मैं जो कथन करता हूँ, उसका शब्दार्थ ठीक नहीं है। इसलिए उस शब्दार्थ का निश्चयनय निषेध करता है।

४. निश्चय—जो व्यवहार के शब्द हैं, वे दूसरे (अ) के भाव को दूसरे (ब) का भाव कहते हैं। इसलिए उस कहनेवाले जो संक्षिप्त शब्द हैं, उसी प्रकार यदि अर्थ किया जाय तो मैं उसका निषेध करता हूँ।

व्यवहार—मेरे जो शब्द हैं, वे दूसरे (अ) के भाव को दूसरे (ब) का भाव कहते हैं;

इसलिए मेरे संक्षेप में जो शब्द हैं, उन्हीं के अनुसार उनका अर्थ करने का निश्चय निषेध करता है, यह ठीक ही है।

५- निश्चय—मैं दूसरे के भाव को दूसरे का नहीं कहता, इसलिए मेरे जो शब्द हैं, उन्हीं के अनुसार जो अर्थ किया जाता है, वही वास्तविक अर्थ है।

व्यवहार—जो भाव जैसा है, मैं वैसा नहीं कहता, किन्तु जो भाव जैसा है, वैसा निश्चय कहता है। इसलिए मेरे कथन में से भी निश्चयानुसार अर्थ निकालना चाहिए।

६- निश्चय—मेरे कथन का जैसा अर्थ है, वैसा ही करना चाहिए, किन्तु व्यवहार के कथन का अर्थ करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि वह एक समय की अधूरी पर्याय, विकारी पर्याय, परद्रव्य अथवा निमित्त क्या है, मात्र इतना ही कहता है। इसलिए उसका उसी के अनुसार

अजीव के दृष्टान्त	व्यवहार का कथन	निश्चय का कथन और व्यवहार का निषेध	निश्चय व्यवहार की संधि	व्यवहार के कथन का यथार्थ अर्थ
१	घी का घड़ा	घड़ा मिट्टीमय है, घी मय नहीं है।	घी और घड़ा एक स्थान पर हैं, किन्तु स्वक्षेत्र में दोनों भिन्न हैं।	घड़ा मिट्टी का है, घी का नहीं, किन्तु घड़ा और घी एक ही क्षेत्र में रहते हैं, इतने अंश में अर्थ ठीक है परन्तु घड़ा घी का नहीं है; इसलिए भाषा के कथनानुसार अर्थ यथार्थ नहीं है।
२	पानी का लोटा	लोटा धातुमय है, पानीमय नहीं है	पानी और लोटा एक आकाश-क्षेत्रावगाही है, किन्तु स्वक्षेत्र में दोनों भिन्न हैं।	लोटा धातु का बना है पानी का नहीं। एक स्थान पर होने से वैसा कहा जाता है, किन्तु उसका भाषानुसार अर्थ ठीक नहीं है।
३	तलवार की म्यान	म्यान लकड़ीमय है, तलवारमय नहीं	ऊपर की ही भाँति समझना चाहिए।	ऊपर की ही भाँति समझना चाहिए।
४	गद्दे का कपड़ा	कपड़ा अपने वस्त्र मय है, गद्दामय नहीं	,,	,,
५	दवा की शीशी	शीशी काँचमय है, दवामय नहीं	,,	,,
६	गहनों की तिजोरी	तिजोरी लोहमय है, गहनोंमय नहीं	,,	,,
७	रुपयों की संदूक	संदूक लकड़ीमय है, रुपयामय नहीं	,,	,,
८	पलंग की निवार	निवार सूतमय है, पलंगमय नहीं	,,	,,

अर्थ करना ही सत्य है।

व्यवहार—मेरे कथन का अर्थ यों करना चाहिए कि मैं एक समय की अधूरी पर्याय, विकारी पर्याय, परद्रव्य अथवा निमित्त क्या है, यह कहता हूँ। इसलिए उतने मात्र के लिए उतना ही अर्थ करना ठीक है। यदि शब्दानुसार मेरा अर्थ किया गया तो गलत है।

(प्रमाण के लिए देखो समयसार गाथा ५६ से ६० तक तथा ६६ से ६८ तक)

निश्चय तथा व्यवहार के उपर्युक्त कथन से सिद्ध होता है कि निश्चय, व्यवहार का निषेधक है। इसलिए निश्चय के अर्थ को कैसे समझा जाय और व्यवहार कथन के अर्थ को कैसे समझा जाये और व्यवहार कथन के अर्थ को किस प्रकार बदल देना चाहिए, यह कोठा नं. १, २, ३ में दिये गये दृष्टान्तों के द्वारा समझाया जाता है। (रा.मा.दोशी)

जीव अजीव के दृष्टान्त	व्यवहार का कथन	निश्चय का कथन और व्यवहार का निषेध	निश्चय व्यवहार की संधि	व्यवहार के कथन का यथार्थ अर्थ
१	सीता का घड़ा	घड़ा मिट्टीमय है, सीतामय नहीं	घड़े की मालिकी सीता मानती है, दोनों एक आकाश क्षेत्र में नहीं हैं, स्व-पर दोनों प्रदेश में भिन्न हैं, फिर भी लोक व्यवहार के लिए ऐसा कहा जाता है।	घड़ा मिट्टी का है, सीता का नहीं; सीता मानती है, इसलिए ऐसा कहा जाता है। लौकिक मालिकी बताने के लिए यह कथन है, यदि ऐसा अर्थ किया जाये तो ठीक है; भाषा के कथनानुसार अर्थ करना ठीक नहीं है।
२	स्त्री की साड़ी	साड़ी वस्त्रमय है, स्त्रीमय नहीं	ऊपर की ही भाँति समझना चाहिए।	ऊपर की ही भाँति समझना चाहिए।
३	भाई का चश्मा	चश्मा धातुमय है, भाईमय नहीं	,,	,,
४	रामदास की गली	गली आकाशमय है, रामदासमय नहीं	रामदास उस गली में प्रतिष्ठित पुरुष है या थे; दोनों एक आकाश क्षेत्र में नहीं है, स्व-पर क्षेत्र में भिन्न हैं, फिर भी लोक व्यवहार के लिए यह कथन पद्धति है।	गली तो खुली जगह है, रामदास उस गली के प्रतिष्ठित पुरुष हैं, इसलिए वह उनके नाम से पुकारी जाती है, यदि यों अर्थ किया जाय तो ठीक है और यदि यों अर्थ करे कि गली रामदास की बनी है, तो गलत है।

नोट :— इसी प्रकार 'मास्टर की लकड़ी' 'साहब का दफ्तर' 'राजा का गाँव' 'मेरा देश' इत्यादि कथन में भी समझना चाहिए।

एक आकाश क्षेत्र में जीव अजीव के दृष्टान्त	व्यवहार का कथन	निश्चय का कथन और व्यवहार का निषेध	निश्चय व्यवहार की संधि	व्यवहार के कथन का यथार्थ अर्थ
१	जीव का शरीर	शरीर पुद्गल है, जीवमय नहीं	शरीर जड़ से बना है, भूल से जीव उसे अपना मानता है। दोनों आकाश के एक क्षेत्र में अवगाह करते हैं। अपने-अपने क्षेत्र अलग हैं, परन्तु आकाश का एक क्षेत्र रोका है, यह बताने के लिये वह व्यवहार सत्य है।	शरीर अजीव से बना है, जीव से निर्मित नहीं है; परन्तु जीव भूल से उसे अपना मानता है, और आकाश के उसी क्षेत्र को रोकता है, ऐसा अर्थ किया जाय तो ठीक है, शब्दानुसार अर्थ किया जाय तो गलत है।
२	पंचेन्द्रिय जीव	जीव चेतनमय है, पंचेन्द्रियमय नहीं	जीव चेतनमय है; पंचेन्द्रियाँ जीव नहीं हैं, इन्द्रियाँ जड़ हैं, इस प्रकार ऊपर की तरह समझना चाहिए।	,,
३	सचेतन शरीर	शरीर जड़मय है, सचेतन मय नहीं	शरीर जड़मय है, सचेतनमय नहीं है। शेष ऊपर की भाँति समझना चाहिए।	शरीर वास्तव में सचेतन हुआ है अथवा वह अनन्तवें भाग भी सचेतन हुआ है, यह मानना भूल है। परन्तु ऊपर की भाँति समझना चाहिए।
४	जीव सफेद	सफेद शरीर का रंग है, इसलिए सफेद पुद्गल के रंगमय है, जीवमय नहीं।	जीव जिस समय आकाश क्षेत्र में है, उस आकाश क्षेत्र में शरीर की स्थिति है, इसलिए उसके रंग को उपचार से जीव का रंग कहा है। जीव सफेद नहीं होता। विशेष ऊपर की तरह समझना।	जीव सफेद नहीं, सफेद तो वास्तव में शरीर है, वह वास्तविक बात है। विशेष ऊपर की तरह समझना चाहिए।

इस तरह से १- जीव पर्याप्त, २- जीव अपर्याप्त, ३- जीव सूक्ष्म, ४- जीव बादर और ५- जीव पंचेन्द्रिय इत्यादि व्यवहार कथन ऊपर की भाँति समझना चाहिए। और १-जीव चेतनमय है, पर्याप्त नहीं, २- जीव चेतनमय है, अपर्याप्त नहीं, ३-जीव चेतनमय है, बादर नहीं, ४-जीव चेतनमय है, सूक्ष्म नहीं, और ५- जीव चेतनमय है, एकेन्द्रियादि नहीं-यों समझना चाहिए, तथा अन्य बातें भी ऊपर की भाँति समझना चाहिए।

इस तरह लोक में व्यवहार कथन के जो अर्थ होते हैं, वह सब 'घी का घड़ा' के दृष्टान्त से लेकर अभी तक के दृष्टान्तों में भेद बताकर समझाये हैं, और ऐसे ही अर्थ शास्त्र में भी हैं, यह सब प्रारम्भ से ही निश्चय व्यवहार के कथन में छह बोलो में बता दिया गया है।

इससे यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि निश्चय क्या कहता है और व्यवहार क्या कहता है तथा निश्चयनय, व्यवहारनय का निषेध करता हुआ भी दोनों में सन्धि कैसे स्थापित करता है। इसलिए निश्चयनय, व्यवहार का निषेध करता है, यह सिद्धान्त उदाहरण देकर समझाया है।

•••••

आत्मस्वरूप की आराधना करो

प्रद्युम्नकुमार, श्री कृष्णवासुदेव के पुत्र थे; समस्त संसार के प्रति विरक्त होकर वे दीक्षा लेकर मुनि हो गये। उस समय उनने माता-पिता से दीक्षा के लिये आज्ञा माँगते हुए अत्यन्त विनयपूर्वक कहा था:—

> हे जीव! सर्वज्ञ के धर्म के अतिरिक्त तीन लोक में कोई शरणभूत नहीं है; इसलिए उसी धर्म को जान, उसी पर श्रद्धा कर, और आत्मस्वरूप की आराधना कर!
>
> परमपूज्य सद्गुरुदेव के प्रवचन में से
> चैत्र सुदी ७, ता. १८-४-४५

पिताजी! मुझे आज्ञा दीजिए; मैं अब परम पवित्र भगवती जिनदीक्षा अंगीकार करूँगा। मैं अब स्वस्वरूप में रमण करके अपना केवलज्ञान प्रगटाऊँगा; इस असार क्षणभंगुर संसार में अनन्त काल व्यतीत किया; अब मुझे आत्मकल्याण करने दीजिये! मैं अब शुद्ध स्वरूप में रमण करता हुआ, समस्त विभावों का क्षय करके इसी भव में जन्म-मरण को समाप्त करके मोक्षदशा को प्रगट करूँगा। इस अनादि संसार में कोई शरणभूत नहीं हुआ। मैं इस अशरण संसार को छोड़कर, अपने आत्मा की शरण में जाकर शरीर का यह बाह्यावरण नष्ट कर दूँगा। जिन भावों से शरीर प्राप्त हुआ, उन भावों का अभाव कर दूँगा। इस अशरण संसार में तो एक पर एक मरता ही चला जाता है। मैं तो अब अपने अविनाशी आत्मस्वरूप की शरण लेकर केवलज्ञान प्राप्त करूँगा।

शरणभूत ज्ञानमूर्ति भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप है। उसके सिवाय यह शरीरादि शरणभूत नहीं है। इतना ही नहीं, किन्तु पुण्य-पाप का कोई विकल्प भी शरणभूत नहीं है। सभी विकल्प क्षणिक हैं; अविनाशी भगवान् आत्मा को भला, क्षणिक की शरण हो सकती है? शरणभूत तो केवल श्री जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित आत्मस्वभाव ही हैं। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है—

सर्वज्ञनो धर्म सुशर्ण जाणी
आराध्य! आराध्य! प्रभाव आणी,
अनाथ एकांत सनाथ थाशे
एना विना कोय न बांह्य स्हाशे (अशरण भावना)

हे जीव! सर्वज्ञ के धर्म के सिवाय तीनों लोक में कोई भी शरणभूत नहीं है। इसलिए उसी धर्म को जान, श्रद्धा कर, आत्मस्वरूप की आराधना कर, सर्वज्ञ कथित धर्म की आराधन कर। हजारों देवों के स्वामी–इन्द्र भी उस धर्म की आराधना करते हैं। इन्द्र का वैभव भी अशरण है। मरण के समय इन्द्र के पास ८४००० देव सेवा में खड़े रहते हैं, किन्तु इन्द्र को मरण से कोई बचा नहीं पाता।

इन्द्र स्वयं सम्यक्त्वी है, उसे आत्मा का भान है कि मेरा सुख पर में नहीं है, मुझे कोई शरण नहीं है, जिनधर्म–आत्मस्वभाव ही मेरा शरणभूत है। यह इन्द्र भी जिनधर्म का आराधक है; उसमें स्वरूप की पूर्णता की भावना है; किन्तु हमें वह इन्द्र पद नहीं चाहिए; इन्द्र पद में हमारी आत्मा की शान्ति कहाँ? हम तो मनुष्य होकर भगवान के पास चारित्र धारण करके केवलज्ञान प्राप्त करेंगे। यही हमारा पद है।

इस प्रकार अनेक तरह से वैराग्य भावना को भाते हुए प्रद्युम्नकुमार, माता–पिता से आज्ञा लेकर, समस्त राज वैभव छोड़कर मुनि होकर परिपूर्ण पुरुषार्थ द्वारा केवलज्ञान प्रगट करके उसी भव में अशरीरीर–सिद्ध हो गये।

मृगापुत्र के वैराग्य की कथा

मृगापुत्र को आत्मा का भान है। अभी उनकी उम्र छोटी है, किन्तु जातिस्मरण होने से संसार के प्रति विरक्ति हो जाती है। मृगापुत्र राजकुमार है। हीरा माणिक रत्नजड़ित पलंग पर सोनेवाले वैभवशाली राजकुमार आत्मस्वरूप की साधना करने के हेतु मुनि दीक्षा लेने के लिये अपने माता–पिता से कहते हैं—

हे माता! हे जननी! यह शरीर अशुचि में से उत्पन्न हुआ है, और यह स्वयं अशुचिमय है। माता! मेरा सुख न तो इस शरीर में है और न राजवैभव में। मेरा सुख आत्मा में है। हे माता! मुझे जिनदीक्षा ग्रहण करने की अनुमति दे–आज्ञा दे। मैं अब अशरीरी–सिद्ध परमात्मा होऊँगा। अब मैं दूसरा शरीर धारण नहीं करूँगा। नया भव धारण नहीं करूँगा। मैं अब पूर्णानन्दी स्वरूप की आराधना करके परमात्मदशा प्रगट करूँगा। माता! मैं मानता हूँ कि तुझे इससे दु:ख होगा, मगर अब मेरी कोई दूसरी माता नहीं होगी। मैं अब पुनर्जन्म धारण नहीं करूँगा।

माता! इस जन्म–मरण में कहीं भी आत्म सुख नहीं है। यह मणि रत्नाभरणादि या शरीर

मेरा नहीं है, मेरी आत्मा ही मेरी शरण है। अब मैं इस अशरण संसार में एक क्षण भी नहीं रहूँगा। विभाव भाव में मेरा कोई कहीं भी शरण नहीं है–मैं अपने स्व–भाव की शरण लूँगा और इन विभावों का नाश कर दूँगा; इस प्रकार स्वरूपज्ञता में नि:शंक होकर, समस्त राज वैभव छोड़कर नग्न दिगम्बर मुनि दशा धारण कर स्वरूप रमण करके सिद्ध हो गये।

देखो! ज्ञानियों ने सत्स्वरूप में शान्ति के दर्शन किये, उसी की शरण ग्रहण की। यह शरीर तो रजकणों से निर्मित जड़ है, इसका कण–कण पृथक् हो जायेगा, उसमें आत्मशान्ति कहाँ? इस मनुष्य भव में शीघ्र ही आत्मभान कर लेना योग्य है।

दो ब्राह्मण पुत्रों की कथा

दो ब्राह्मण पुत्र थे, उन्हें जातिस्मरण हो गया था, वे जैनधर्मी थे, उन्हें आत्मा का भान था; वे दीक्षा लेकर मुनि हो गये। मुनि होने से पूर्व उनने अपने माता–पिता से अनुमति माँगी और कहा कि हे माता! अजीवस्वभावी इस शरीर का राग छोड़कर हम इसी क्षण चिदानन्दस्वरूप आत्मधर्म को और स्वरूप के चारित्र को धारण करते हैं। हे जननी! अब हम चिदानन्दस्वरूप आत्मा की शरण लेते हैं और अब सदा के लिये इस अजीव शरीर के त्याग का व्रत लेते हैं। हे माता! अब हम पुनर्जन्म ग्रहण नहीं करेंगे। अब तो इस भव का नाश करके स्वरूप को प्राप्त करेंगे। इस संसार में परिभ्रमण करते हुए हमें तो अपने इस स्वत: प्राप्त आत्मा के सिवाय दूसरा कोई शरण दिखाई नहीं दिया। अनन्त बार स्वर्गों के वैभव और नरकों के दु:ख भोगे हैं; अब हम इस अजीव शरीर को कभी भी धारण नहीं करेंगे। हे माता! नरकों में हजारों वर्ष भूख–प्यास के दु:ख सहन किये, शरीर विदीर्ण हुए; पशुओं के दु:ख भी अनन्त बार भोगे तथा देवों के वैभव भी अनन्त बार पाये; परन्तु आत्म साधना आज तक कभी नहीं की; अब तो हम आत्म साधना पूर्ण करेंगे। इस प्रकार सर्वस्व त्याग करके आत्म स्वरूप में रमण करने के लिये घर छोड़कर चल देते हैं।

कैसे ही तुच्छ विषय में प्रवेश क्यों न हो, फिर भी उज्ज्वल आत्माओं की स्वत: प्रवृत्ति वैराग्य की ओर जाने में ही होती है। वैराग्य का निमित्त मिलते ही ज्ञानीजन संसार के तमाम विकल्प बन्धनों को छोड़कर स्वात्मस्वरूप में प्रवृत्त हो जाते हैं, और केवलज्ञान को प्रगट करते हैं। क्षणभंगुर मरण देखकर ज्ञानियों को संसार के प्रति वैराग्य हो जाता है। वे सोचते हैं कि यह संसार क्षणिक है, मैं तो अविनाशी आत्मा हूँ। यह देह संयागी चीज है; यह वियोग होने को ही हैं, इसलिए इस शरीर का संयोग क्षणिक जानकर, उसके प्रति जो राग है, उसे दूर करके चिदानन्द वीतरागस्वरूप आत्मा की पहचान करके उसी की शरण प्राप्त करके स्वभाव में स्थिर हो जाना चाहिए। यही संसार मुक्त होने का उपाय है। इस संसार में आत्मस्वरूप के सिवाय दूसरा कोई शरण नहीं है। इसलिए आत्मस्वरूप की पहचान करके शीघ्र ही आत्म कल्याण कर लेना चाहिए।

देव-गुरु-धर्म को किसी की भक्ति की आवश्यकता नहीं, किन्तु जिज्ञासु जीवों को साधकदशा में अशुभराग से बचने के लिये-

सत का बहुमान हुए बिना नहीं रहता

आत्मा प्रिय हुआ कब कहा जाता है, अर्थात् यह कब कहा जाता है कि आत्मा की कीमत या प्रतिष्ठा हुई? पहली बात तो यह है कि जो वीतराग-सर्वज्ञ परमात्मा हो गये हैं—ऐसे अरहन्तदेव के प्रति सच्ची प्रीति होनी चाहिए। किन्तु विषय कषाय या कुदेवादि के प्रति जो तीव्र राग है, उसे दूर करके सच्चे देव-गुरु के प्रति भक्ति प्रदर्शित करने के लिये भी जो जीव, मन्दराग नहीं कर सकते, वे जीव बिल्कुल रागरहित आत्मस्वरूप की श्रद्धा कहाँ से पा सकेंगे?

जिस में परम उपकारी वीतरागी देव-गुरु धर्म के लिये भी राग कम करने की भावना नहीं है, वह अपने आत्मा के लिये राग का बिलकुल अभाव कैसे कर सकेगा? जिसमें दो पाई देने की शक्ति नहीं है, वह दो लाख रुपया क्यों कर दे सकेगा? उसी प्रकार जिस देव-गुरु की सच्ची प्रीति नहीं है—व्यवहार में भी अभी जो राग कम नहीं कर सकता, वह निश्चय में यह कैसे और कहाँ से ला सकेगा कि 'राग मेरा स्वरूप ही नहीं है।'

जिसे देव-गुरु की सच्ची श्रद्धा-भक्ति नहीं है, उसे तो निश्चय या व्यवहार में से कोई भी सच्चा नहीं है, मात्र अकेले मूढ़ भाव की ही पुष्टि होती है-वह केवल तीव्र कषाय और शुष्कज्ञान को ही पुष्ट करता है।

प्राथमिक दशा में देव-गुरु-धर्म की भक्ति का शुभराग जागृत होता है-और उसी के आवेश में भक्त सोचता है कि देव-गुरु-धर्म के लिये तृष्णा कम करके अर्पित हो जाऊँ, उनके लिये अपने शरीर की चमड़ी उतरवाकर यदि जूते बनवा दूँ तो भी उनके उपकार से उऋण नहीं हो सकता। इस तरह की सर्वस्व समर्पण की भावना अपने मन में आये बिना देव-गुरु-धर्म के प्रति सच्ची प्रीति उत्पन्न नहीं होती और देव-गुरु-धर्म की प्रीति के बिना आत्मा की पहचान नहीं हो सकती। देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति और अर्पणता के बिना आये तीन लोक और त्रिकाल में भी आत्मा में प्रामाणिकता उत्पन्न नहीं हो सकती और न आत्मा में निज के लिये ही समर्पण की भावना उत्पन्न हो सकती है।

तू एक बार गुरुचरणों में अर्पित हो जा! पश्चात् गुरु ही तुझे अपने में समा जाने की आज्ञा देंगे। एक बार तो तू सत् की शरण में झुक जा, और यह स्वीकार कर की उसकी हाँ ही हाँ है और ना ही ना! तुझमें सत् की अर्पणता आने के बाद सन्त कहेंगे कि तू परिपूर्ण है, अब तुझे मेरी

आवश्यकता नहीं है, तू स्वयं ही अपने ओर देख; यही आज्ञा है और यही धर्म है।

एकबार सत्-चरण में समर्पित हो जा। सच्चे देव-गुरु के प्रति समर्पित हुए बिना आत्मा का उद्धार नहीं हो सकता-किन्तु यदि उसी का आश्रय मानकर बैठ जाय तो भी पराश्रय होने के कारण आत्मा का उद्धार नहीं होगा। इस प्रकार परमार्थस्वरूप में तो भगवान आत्मा अकेला ही है, परन्तु वह परमार्थस्वरूप को प्राप्त नहीं कर सकता, तब तक पहले देव-गुरु-शास्त्र को स्वस्वरूप के आंगन में विराजमान करना, यह व्यवहार है। देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति-पूजा के बिना केवल निश्चय की मात्र बातें करनेवाला शुष्कज्ञानी है।

देव-गुरु-धर्म को तेरी भक्ति की आवश्यकता नहीं है, किन्तु जिज्ञासु जीवों को साधक दशा में अशुभराग से बचने के लिये सत् के प्रति बहुमान उत्पन्न हुये बिना नहीं रहता। श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा है कि ''यद्यपि ज्ञानी भक्ति नहीं चाहते, फिर भी वैसा किये बिना मुमुक्षु जीवों का कल्याण नहीं हो सकता। संतों के हृदय में निवास करनेवाला यह गुप्त रहस्य यहाँ खोल कर रख दिया गया है।'' सत् के जिज्ञासु को सत् निमित्तरूप सत् पुरुष की भक्ति का उल्लास आये बिना रह नहीं सकता।

पहले तो उल्लास जागृत होता है कि अहो! अभी तक तो असंग चैतन्य ज्योत आत्मा की बात ही नहीं बनी और सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति से भी अलग रहा। इतना समय बीत गया। इस प्रकार जिज्ञासु को पहले की भूल का पश्चात्ताप होता है और वर्तमान में उल्लास जागृत होता है। किन्तु यह देव-गुरु-शास्त्र का राग, आत्मस्वभाव को प्रगट नहीं करता। पहले तो राग उत्पन्न होता है और फिर ''यह राग भी मेरा स्वरूप नहीं है'' इस प्रकार स्वभाव दृष्टि के बल से अपूर्व आत्मभान प्रगट होता है।

सच पूछा जाय तो देव-गुरु-शास्त्र के प्रति अनादि से सत्य समर्पण ही नहीं हुआ और उनका कहा हुआ सुना तक नहीं। अन्यथा देव-गुरु-शास्त्र तो यह कहते हैं कि तुझे मेरा आश्रय नहीं है, तू स्वतन्त्र है। यदि देव-गुरु-शास्त्र की सच्ची श्रद्धा की होती तो उसे अपनी स्वतन्त्रता की श्रद्धा अवश्य हो जाती। देव-गुरु-शास्त्र के चरणों में तन-मन-धन समर्पण किये बिना-जिसमें सम्पूर्ण आत्मा का समर्पण समाविष्ट है-सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहाँ से प्रगट होगा?

अहो! जगत को वस्त्र, मकान, धन आदि से बड़प्पन मालूम होता है, परन्तु जो जगत का कल्याण कर रहे हैं—ऐसे देव-गुरु-शास्त्र के प्रति भक्ति-समर्पण भाव उत्पन्न नहीं होता। उसके बिना उद्धार की कल्पना भी कैसी?

प्रश्न - आत्मा के स्वरूप में राग नहीं है। फिर भी देव-गुरु-शास्त्र के प्रति शुभराग करने के लिये क्यों कहते हैं?

उत्तर – जैसे किसी म्लेच्छ को माँस छुड़ाने का उपदेश देने के लिए म्लेच्छ भाषा का भी प्रयोग करना पड़ता है, किन्तु उससे ब्राह्मण का ब्राह्मणत्व नष्ट नहीं हो जाता; उसी प्रकार सम्पूर्ण राग छुड़ाने के लिये उसे अशुभराग से हटाकर देव-गुरु-धर्म के प्रति शुभराग करने को कहा जाता है। (वहाँ राग कराने का हेतु नहीं है, किन्तु राग छुड़ाने का हेतु है। जितना राग कम हुआ, उतना ही प्रयोजन है। राग रहे, यह प्रयोजन नहीं है।)

उसके बाद ''देव-शास्त्र-गुरु का शुभराग भी मेरा स्वरूप नहीं है'' इस प्रकार राग का निषेध करके वीतराग स्वरूप की श्रद्धा करने लगता है।

हे प्रभु! पहले जिनने प्रभुता प्रगट की है—ऐसे देव-गुरु की भक्ति, बड़प्पन न आवे और जगत का बड़प्पन दिखाई दे, तब तक तेरी प्रभुता प्रगट नहीं होगी। देव-गुरु-शास्त्र की व्यवहार श्रद्धा तो जीव अनन्त बार कर चुका परन्तु इस आत्मा की श्रद्धा अनन्त काल से नहीं की है-परमार्थ को नहीं समझा है। शुभराग में अटक गया है।

★

★ सम्यग्ज्ञान की महिमा ★

सम्यग्दर्शन के न होने पर जो ज्ञान होता है, वह कुज्ञान (मिथ्याज्ञान) कहलाता है; वही ज्ञान, सम्यग्दर्शन होने पर सम्यग्ज्ञान कहलाने लगता है; इसीलिए यद्यपि ये दोनों साथ-साथ होते हैं, फिर भी इनमें लक्षणों के भिन्न-भिन्न होने का तथा कार्य-कारण भाव का अन्तर है, अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान का कारण है।

अपना तथा पर वस्तुओं का जैसा का तैसा जानना सम्यग्ज्ञान कहलाता है। इसी से आत्मज्ञान तथा केवलज्ञान प्राप्त होता है। सम्यग्ज्ञान के समान सुखदायक वस्तु और कोई नहीं है, तथा यही जन्म, जरा और मृत्यु का नाश करता है। मिथ्यादृष्टि जीव के, ज्ञान बिना करोड़ों जन्म तक तप तपने से जितने कर्म नष्ट होते हैं, उतने कर्म सम्यग्ज्ञानी जीव के त्रिगुप्ति से क्षण भर में नष्ट हो जाते हैं। पहिले जो जीव मोक्ष को जा चुके हैं, आगे जावेंगे और अभी विदेहक्षेत्र से जा रहे हैं, यह सब सम्यग्ज्ञान का ही प्रभाव है। जैसे मूसलधार वृष्टि वन की भीषण अग्नि को क्षणमात्र में नष्ट कर देती है, उसी प्रकार यह सम्यग्ज्ञान, विषय-वासनाओं के क्षणमात्र में नष्ट कर देता है।

पुण्य वा पाप तो पुद्गल की पर्यायें हैं, रांहट की धरियों के समान उलटती-पलटती रहती हैं। उनके फलों में हर्ष-विषादि करना मूर्खता है। इसलिए सार बात तो यही है कि पुण्य-पाप सहित संसारिक झंझटों से छूट कर सम्यग्ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

आत्मा और पर वस्तुओं का भेदविज्ञान उस सम्यग्ज्ञान का कारण है, इसलिए जैसे बने तैसे संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय का त्याग कर तत्त्वाभ्यास द्वारा सम्यग्ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, क्योंकि मनुष्यपर्याय, उत्तम श्रावककुल और जिनवाणी का श्रवण आदि सुयोग, समुद्र में डूबे हुए रत्न के समान बार-बार हाथ नहीं आते। इनको पाकर व्यर्थ ही गमा देना मूर्खता है।

[छहढाला]

★ ★ ★ ★

सुवर्णपुरी में महामांगलिक महोत्सव

परम पूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजी स्वामी पिछले दस वर्ष से सनातन जैनधर्म की अद्भूत प्रभावना कर रहे हैं। उनके द्वारा अध्यात्म-ज्ञान का बहुत ही प्रचार हुआ है; इस अध्यात्मज्ञान के प्रचार से हिन्दुस्तान के कई भव्य जीवों को लाभ हुआ है! और इससे बहुत से मुमुक्षु उनके प्रत्यक्ष दर्शन और सत्संग का लाभ उठाते हैं। सनातन जैनधर्म के खास अनुयायी इंदौर के धर्मप्रेमी श्रीमंत शेठ सर हुकमीचंदजी ने प. पू. गुरुदेव की तारीफ सुनी थी! और गुजराती 'आत्मधर्म' मासिक पत्र द्वारा उनके व्याख्यान आदि पढ़े थे। इससे उनको पू. गुरुदेव का प्रत्यक्ष परिचय करने की बहुत समय से भावना थी। पिछले चैत्र मास में वे आनेवाले थे परन्तु संजोगवशात् वे आ न सके। अन्त में वैशाख वदी ६ (ता. १-६-४५) को प्रात:काल में लगभग चार बजे वे मोटर द्वारा सोनगढ़ पधारे। वैशाख वदी ६ और ८ के दिनों में वार्षिक प्रतिष्ठा महोत्सव का प्रसंग होने से और शेठजी के आने के समाचार सुनकर बाहर से लगभग एक हजार आदमी आये थे। शेठजी के साथ दानशीला शेठानीजी अ. सौ. कंचन बहेन, दानशीला शेठानीजी प्यार

धर्म बंधुओं!

अध्यात्मज्ञान का यह पत्र 'आत्मधर्म' आपको भेंट दिया जाता है, और ३ माह तक आपके पास भेंट स्वरूप भेजा जाता रहेगा। यदि आपको यह पत्र पसंद आये तो आप इसकी वार्षिक मूल्य ३/- (तीन रुपया) देकर ग्राहक हो जाइयेगा।

भवदीय,
जमनादास रवाणी

कुंवरजी (शेठजी के स्व. बंधु कल्याणमल्लजी की धर्मपत्नी) शेठ फत्तेचंदजी, मंत्री श्रीयुत गुलाबचंदजी और हजारीमलजी मुनिम आदि थे।

वे आये उसी दिन सबेरे पहली ही बार पू. गुरुदेव का दर्शन करके उनको बहुत आनंद हुआ और पू. गुरुदेव का व्याख्यान सुनकर उन पर बहुत ही प्रभाव पड़ा। व्याख्यान में वे बोले — ''**कुंदकुंद भगवान ने तो शास्त्र में सब कहा है किन्तु उसका रहस्य समझाने के लिये आपका जन्म है।**'' जब व्याख्यान में सम्यग्दृष्टि का उल्लेख होता, तब वे बहुत प्रसन्न होते और बार-बार उत्साह से बोल उठते — ''**सम्यग्दृष्टि के बिना कोई यह बात नहीं समझ सकता, मिथ्यादृष्टि-अज्ञानी जीव आपकी बात नहीं स्वीकार सकता, सम्यग्दृष्टि जैसे जीवों ही आपकी बात समझ सकते हैं, हमको बहुत आनंद होता है**'' यह वाक्य को वे हमेशा व्याख्यान में अनेकबार उत्साह से बोलते थे। सोनगढ़ में आये अभी उनको छ घंटे हुए थे और पू. गुरुदेवश्री का एक घंटे का परिचय हुआ था, इतने थोड़े समय में ता-१ को व्याख्यान के बाद उन्होंने अपनी ओर से स्वाध्याय मंदिर को ५००१ रुपये की सखावत जाहेर की और उनके साथी शेठजी फत्तेचंदजी ने भी ५०१ रुपये दिये।

व्याख्यान के बाद हमेशा वे कोई आध्यात्मिक पद गाते थे। ता-१ को व्याख्यान के बाद मंदिरजी, समोसरण मंदिर आदि देखा। समवसरण में श्री सीमंधर भगवान के सन्मुख श्री कुंदकुंद भगवान हाथ जोड़कर वंदन करते हुए खड़े हैं। यह दृश्य देखकर आनंदित हुए थे और वैसा ही एक समवसरण इंदौर में बनाने का निश्चय किया है। इसलिए यहाँ के समवसरण का नाप व फोटो ले गये हैं।

वैशाख वदी ६ को भी समवसरण मंदिर की प्रतिष्ठा का वार्षिक महोत्सव था, प्रभुश्री की रथयात्रा निकली थी, उसमें वे पधारे थे, वहाँ प्रभुश्री का पूजन आदि हुआ था।

ता. २ (वै.-वदी-७) सुबह तक पू. गुरुदेवश्री के तीन व्याख्यान सुनकर उनके हृदय में अपूर्व प्रभाव पड़ा और ऐसे अध्यात्म ज्ञान की प्रभावना के लिये जितने भी प्रयत्न किये जाय उतने कम हैं, ऐसा उन्हें अनुभव हुआ, उन्होंने जो कल ५००१ रुपये देना का निर्णय किया था, उस सखावत को बढ़ाने की ईच्छा हुई; व्याख्यान के बाद उन्होंने कहा — ''**अहो सभाजनों! आपका बड़ा भाग्य है कि आप सत्पुरुष के अध्यात्म उपदेश का बड़ी रुचि से नित्य लाभ ले रहे हो। मैं तो तुच्छ आदमी हूँ, आप तो बड़े भाग्यवान हो। मैं तो अल्प लाभ ले सका हूँ तो भी मेरा आनंद का क्या कहूँ? यदि यह अध्यात्मज्ञान के लिये मेरा सब कुछ अर्पण**

किया जाय तो भी कम है। मैंने जो रकम कल कही है उनके लिये मैं फेर कहता हूँ कि यह संस्था की उन्नत्ति के लिये मेरे तरफ से १२५०१ बारह हजार पाँच सौ एक और घर में से (सेठाणीजी तरफ से) रु. १२५०१ इस संस्था को अर्पण करता हूँ।''

तदुपरांत उसी समय शेठानीजी प्यारकुंवरजी की ओर से रु. १००१ की रकम शेठजी ने जाहेर की किन्तु उसी रकम बढ़ाकर शेठानीजी ने अपनी ओर से रु. ५००१ जाहेर किया।

शेठजी बराबर ध्यान पूर्वक उत्साह से व्याख्यान सुन रहे थे। मोक्षमार्गप्रकाशक का निश्चय–व्यवहार के संधि का व्याख्यान सुनकर वे व्याख्यान के बीच में जोर से बोल उठे थे कि — **''महाराजजी! कोई लोग तो कहते थे कि आप व्यवहार का लोप करते हो, लेकिन मैं समझता हूँ कि आप तो निश्चय-व्यवहार का सच्चा ज्ञान दिखलाते हो।''**

''कर्म तो जड़ वस्तु है, वह आत्मा को कुछ भी नहीं कर सकता, आत्मा का पुरुषार्थ स्वतन्त्र है, कर्म उसको रोक नहीं सकता; यह बात तो जिसको अनंत भव का नाश कर के एक ही भव में मुक्ति लेनी हो उसके लिये है।'' इस तरह जब व्याख्यान में पू. गुरुदेव पुरुषार्थ की बात जोर पूर्वक कहते थे, तब शेठजी बहुत उछल पड़ते थे और एक बार तो सभा में बहुत जोर से बोल उठे कि—

''हमने जरूर मोक्ष लेना है-महाराजजी! पुरुषार्थ से मुक्ति होती है, हमारा महान पुण्य से ही आपका जन्म हुआ है।''

और एकबार परम पू. गुरुदेव की समक्ष अत्यन्त उल्लास से एवं अंतर से कहते थे कि — **''जो जीव अत्यन्त निकट भव्य हो, वही इधर आता है और जिनको अंतर में आपकी यह बात बैठी, वह एक दो पर्याय में अवश्य मुक्त होता है।''**

शेठजी की खास इच्छा से वदी ७ के रोज रात को भक्ति रखने में आयी थी, और 'सीमंधर मुख थी फूलडां खरे, तेनी कुंदकुंद गूँथे माल रे...' यह स्तवन शेठजी के कहने से गाने में आया था कि जो सुनकर शेठजी अति प्रसन्न हुए थे। तदुपरान्त अन्य तीन स्तवन भी गाये गये थे।

तीसरी तारीख को सबेरे व्याख्यान के पहले आत्मधर्म मासिक के प्रचार के लिये रुपये १००१ की भेंट देते हुए उन्होंने कहा कि — **''महाराजजी का यह अद्‌भुत तत्त्वज्ञान तमाम दुनिया में सब भाषा में प्रचार होवे ऐसी हमारी भावना है, और हिंदी भाषा का बहुत प्रचार है, इसलिए महाराजजी का वचन का गुजराती में जो पत्र निकलता है, और उनका जो हिंदी में कोपी निकलता है, उनका प्रचार के लिये रु. १००१ मैं मदद करता हूँ।''**

ATMADHARMA With the permisson of the Baroda Govt. Regd. No. B.
order No. 30-24 date 31-10-44

व्याख्यान के बाद वे हमेशा एक स्तवन बोलते थे। वैशाख वदी अष्टमी के दिन श्री समयसारजी की प्रतिष्ठा का वार्षिक महोत्सव था। सबेरे श्री समयसारजी की रथयात्रा निकली थी। शेठजी भी रथयात्रा में साथ-साथ आये थे। पू. गुरुदेव जब आहार लेने पधारे थे, तब राणपुर के सेठ नारणदास करसनजी के घर शेठजी ने आहार दान का लाभ उठाया था। दोपहर को व्याख्यान के बाद सेठजी और सेठानीजी ने साथ ही ज्ञानपूजा पढ़ायी थी, पूजा करते समय उनके हृदय आनंद विभोर हो गये थे।

ता. चौथी की शाम को और पाँचवीं की सुबह वे सम्यग्दृष्टि जीव का परिणमन कैसा हो जाता है, उसके विषय में जो स्तवन बोले थे, वह इसी अंक में मुख पृष्ठ पर दिया गया है।

हमेशा तात्त्विक चर्चा भी होती रहती, उस चर्चा में ता-४ को सेठजी एकदम उत्साह से बोल उठे थे — **''मेरे में तो आटला (इतना) ज्ञान नहीं है, शास्त्र का ऐसा रहस्य मैं नहीं जानता हूँ, लेकिन अंतःकरण से मैं कह देता हूँ कि आपकी बात ही सच्ची है। मैं आपकी बात तो पहले आत्मधर्म में सुनता था, किन्तु अब सभा में आया, तब मुझे निश्चय हो गया है कि आप कहता है सो ही सच्च है-और अपूर्व है।''**

श्रीमंत शेठ सर हुकमीचंदजी का सुवर्णपुरी में पूज्य सद्गुरुदेव के पास आगमन और परिचय, वह सनातन जैनधर्म की महान प्रभावना का कारण हुआ है।

मुद्रक—प्रकाशक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय,
दासकुंज, मोटा आंकडिया, काठियावाड़, पुनर्मुद्रण ता. ११-१०-४५